जैन रहस्यवाद

□ डॉ० पुष्पलता जैन

(प्राध्यापिका, एस० एफ० एस० कालेज, न्यू एक्सटेंशन एरिया, सदर, नागपुर)

सृष्टि के सर्जक तत्त्व अनादि और अनन्त हैं। उनकी सर्जनशीलता प्राकृतिक शक्तियों के संगठित रूप पर निर्भर करती है। पर उसे हम प्रायः किसी अज्ञात शक्ति विशेष से सम्बद्ध कर देते हैं जिसका मूल कारण मानसिक दृष्टि से स्वयं को असमर्थ स्वीकार करना है। इसी असामर्थ्य में सामर्थ्य पैदा करने वाले "सत्यं शिवं सुन्दरम्" तत्त्व की गवेषणा और स्वानुभूति की प्राप्ति के पीछे हमारी रहस्य-भावना एक बहुत बड़ा सम्बल है। साधक के लिये यह एक गुह्य तत्त्व बन जाता है जिसका सम्बन्ध पराबौद्धिक ऋषि-महर्षियों की गुह्य साधना की पराकाष्ठा और उसकी विशुद्ध तपस्या से जुड़ा है। प्रत्येक द्रष्टा के साक्षात्कार की दिशा, अनुभूति और अभिव्यक्ति समान नहीं हो सकती। उसका ज्ञान और साधनागम्य अनुभव अन्य प्रत्यक्षदर्शियों के ज्ञान और अनुभव से पृथक् होने की ही सम्भावना अधिक रहा करती है। फिर भी लगभग समान मार्गों को किसी एक पन्थ या सम्प्रदाय से जोड़ा जाना भी अस्वाभाविक नहीं। जिस मार्ग को कोई चुम्बकीय व्यक्तित्व प्रस्तुत कर देता है, उससे उसका चिरन्तन सम्बन्ध जुड़ जाता है और आगामी शिष्य परम्परा उसी मार्ग का अनुसरण करती रहती है। यथासमय इसी मार्ग को अपनी परम्परा के अनुकूल कोई नाम दे दिया जाता है जिसे हम अपनी भाषा में धर्म कहने लगते हैं। रहस्य-भावना के साथ ही उस धर्म का अविनाभाव सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है और कालान्तर में भिन्न-भिन्न धर्म और सम्प्रदायों की सीमा में बाँध दिया जाता है।

अर्थ और परिभाषा

'रहस्य' शब्द रहस् पर आधारित है। 'रहस्' शब्द 'रह्' त्यागार्थक धातु में 'असुन्' प्रत्यय लगाने पर बनता है।[1] तदनन्तर 'यत्' प्रत्यय जोड़ने पर 'रहस्य' शब्द निर्मित होता है। इसका विग्रह होगा—'रहसि भवं रहस्यम्'।[2] अर्थात् रहस्य एक ऐसी मानसिक प्रतीति अथवा अनुभूति है जिसमें साधक ज्ञेय वस्तु के अतिरिक्त ज्ञेयान्तर वस्तुओं की वासना से असंपृक्त हो जाता है। इस रहस्य को आध्यात्मिक क्षेत्र में अनुभूति के रूप में और काव्यात्मक क्षेत्र में रस के रूप में प्रस्फुटित किया गया है। रहस्य के उक्त दोनों क्षेत्रों के मर्मज्ञों ने स्वानुभूति को चिदानन्द चैतन्य अथवा ब्रह्मानन्द सहोदर नाम समर्पित किया है। गुह्य अर्थ में भी रहस्य शब्द का प्रयोग हुआ है।[3]

---

१. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणादि सूत्र—चतुर्थपाद)।

२. तत्र भवः, दिगादिभ्यो यत् (पाणिनि सूत्र, ४. ३. ५३-५४)।

३. गुह्यं रहस्यम्.......अभिधान चिंतामणि कोश, ७४२। उत्तरकाल में यह शब्द अध्यात्म के साथ जुड़ गया। पं० टोडरमल (१७३६ ई०) ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखकर इस शब्द के प्रयोग को आध्यात्मि के क्षेत्र में पूरी प्रक्रिया के साथ उतार दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि रहस्यवाद जैसा शब्द प्राचीन भारतीय योग-साधनाओं में उपलब्ध नहीं होता, पर रहस्य शब्द का अथवा उसकी भूमिका का प्रयोग वहाँ सदैव से होता रहा है इसलिए भारतीय साहित्य के लिए यह कोई नवीन तथ्य नहीं रहा। पर्यवेक्षण करने से आधुनिक हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद शब्द का प्रयोग पाश्चात्य साहित्य के अँग्रेजी शब्द Mysticism के रूपान्तर के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

जहाँ वाद होता है, वहाँ विवाद की श्रृंखला तैयार हो जाती है। आत्म-साक्षात्कार की भावना से की गई योग-साधना के साथ भी वाद जुड़ा और रहस्यवाद की परिभाषा में अनेकरूपता आई। इसलिए साहित्यकारों ने रहस्य-भावना को कहीं दर्शनपरक माना और कहीं साधनापरक, कहीं भावनात्मक (प्रेमप्रधान) तो कहीं प्रवृत्तिमूलक, कहीं यौगिक तो अभिव्यक्तिमूलक। परिभाषाओं का यह वैविध्य साधकों की रहस्यानुभूति की विविधता पर ही आधारित रहा है। इतना ही नहीं, कुछ विद्वानों ने तो रहस्यभावना का सम्बन्ध चेतना, संवेदन, मनोवृत्ति और चमत्कारिता से भी जोड़ने का प्रयत्न किया है। इसलिए आज तक रहस्यवाद की परिभाषा सर्वसम्मत नहीं हो सकी। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गयी परिभाषायें अपने-अपने दृष्टिकोण से सही हैं पर वे सार्वभौमिक नहीं मानी जा सकतीं। इसे संकीर्णता के दायरे से हटाकर सर्वांगीण बनाने की दृष्टि से इस प्रकार परिभाषा कर सकते हैं—रहस्यभावना एक ऐसा आध्यात्मिक साधन है जिसके माध्यम से साधक स्वानुभूतिपूर्वक आत्मतत्त्व से परमतत्त्व में लीन हो जाता है। यही रहस्यभावना अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं—कि अध्यात्म की चरमोत्कर्षावस्था की भावाभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है। इस परिभाषा में हम रहस्यवाद की प्रमुख विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

१. रहस्यभावना एक आध्यात्मिक साधन है। अध्यात्म से तात्पर्य है—आत्मा-परमात्मा का चिन्तन। जैनदर्शन प्रमुखतः सात तत्त्वों का मनन, चिन्तन और रत्नत्रय के अनुपालन पर बल देता है। साधक सम्यक्चारित्र का परिपालन करता है और सम्यक्चारित्र का परिपालन करता हुआ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आराधना करता है। यहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र साधन के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

२. रहस्यभावना की अन्यतम विशेषता है स्वानुभूति। बिना स्वयं की प्रत्यक्ष अनुभूति के साधक साध्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसी को शास्त्रीय परिभाषा में सम्यग्दर्शन कह सकते हैं। अनुभूति में उपरान्त ही श्रद्धा दृढ़तर होती चली जाती है। यह अनुभूति भावात्मक होती है और यह भावात्मक अनुभूति ही रहस्यवाद का **प्राण है।**[1]

आत्मानुभव से साधक षड् द्रव्यों के अस्तित्व पर भलीभाँति चिन्तन करता है, श्रद्धा करता है, कर्म-उपाधि से मुक्त हो जाता है। दुर्गति के विषाद दूर हो जाता है तथा उसका चित्त समता सुधारस से भर जाता है।[2] अनुभूति की दामिनी शील रूप शीतल समीर के भीतर से दमकती हुई संतापदायक भावों को चीरकर प्रकट होती है और सहज शाश्वत् आनन्द की प्राप्ति का सन्मार्ग प्रदर्शित करती है।[3]

बनारसीदास के गुरु रूप पण्डित रूपचन्द का तो विश्वास है कि—आत्मानुभव से सारा मोह रूप सघन अँधेरा नष्ट हो जाता है, अनेकान्त की चिर नूतन किरणों का स्वच्छ प्रकाश फैल जाता है, सत्तारूप अनुपम अद्भुत ज्ञेयाकार विकसित हो जाता है, आनन्दकंद अमन्द अमूर्त्त आत्मा में मन बस जाता है तथा उस सुख के सामने अन्य सुख बासे से प्रतीत होने लगते हैं। इसलिए वे अनादिकालीन अविद्या को सर्वप्रथम दूर करना चाहते हैं ताकि चेतना का अनुभव घट-घट में अभिव्यक्त हो सके।

---

१. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ० ५।

२. बनारसीविलास, ज्ञानबावनी, पृ० ६।

३. वही, परमार्थ हिंडोलना, ५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कविवर द्यानतराय आत्मविभोर होकर यही कह उठे—'आतम अनुभव करना रे भाई !' यह आत्मानुभव भेदविज्ञान के बिना संभव नहीं होता। नव पदार्थों का ज्ञान, व्रत, तप, संयम का परिपालन तथा मिथ्यात्व का विनाश अपेक्षित है। भैया भगवतीदास ने अनुभव को शुद्ध-अशुद्ध रूप में विभाजित करके शुद्धानुभव को उपलब्ध करने के लिये निवेदन किया है। यह शुद्धानुभव राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व तथा पर-पदार्थों की संगति को त्यागने, सत्य स्वरूप को धारण करने और आत्मा (हंस) के स्वत्त्व को स्वीकार करने से प्राप्त होता है।[1] इसमें वीतराग भक्ति, अप्रमाद, समाधि, विषयवासना मुक्ति, तथा षट्द्रव्य-ज्ञान का होना भी आवश्यक है।[2] शुद्धानुभवी साधक आत्मा के निरंजन स्वरूप को सदैव समीप रखता है और पुण्य-पाप के भेदक तत्त्व से सुपरिचित रहता है।[3] एक स्थान पर तो भैया भगवतीदास ने अनुभव का अर्थ सम्यग्ज्ञान किया है और स्पष्ट किया है कि कुछ थोड़े ही भव (जन्म-मरण) शेष रहने पर उसकी प्राप्ति होती है। जो उसे प्राप्त नहीं कर पाता वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है।[4] कविवर भूधरदास आत्मानुभव की प्राप्ति के लिए आगमाभ्यास पर अधिक बल देते हैं। उसे उन्होंने एक अपूर्व कला तथा भवदाधहारी घनसार की सलाक माना है।[5] जीवन की अल्पस्थिति और फिर द्वादशांग की अगाधता हमारे कलाप्रेमी को चिंतित कर देती है। इसे दूर करने का उपाय उनकी दृष्टि में एक ही है—श्रुताभ्यास। यही श्रुताभ्यास आत्मा का परम चिंतक है। कविवर द्यानतराय भी भवबाधा से दूर रहने का सर्वोत्तम उपाय आत्मानुभव मानते हैं।[6] आत्मानुभव करने वाला साधक पुद्गल को विनाशीक मानता है। उसका समता-सुख स्वयं में प्रकट रहता है। उसे किसी भी प्रकार की दुविधा अथवा भ्रम शेष नहीं रहता। भेदविज्ञान के माध्यम से वह स्व-पर का निर्णय कर लेता है। दीपचन्द कवि भी आत्मानुभूति को मोक्ष-प्राप्ति का एक ऐसा साधन मानते हैं जिसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना की जाती है। फलतः अखण्ड और अचल ज्ञान-ज्योति प्रकाशित होती है।[7] डा० राधाकृष्ण ने भी इसी को रहस्यवाद कहा है। पर उन्होंने विचारात्मक अनुभूति को दर्शन का क्षेत्र बना दिया। उसका भावात्मक अनुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं स्वीकार किया।[8] यहाँ हम उनके विचारों से सहमत नहीं हो सकेंगे। अनुभूति में भाव यद्यपि प्रधान और मूल अवश्य है पर उनका निकट सम्बन्ध विचार अथवा दर्शन से भी बना रहता है। बिना विचार और दर्शन के भावों में सघनता नहीं आ सकती।

३. आत्मतत्व आध्यात्मिक साधना का केन्द्र है। संसरण का मूल कारण है—आत्मतत्व पर सम्यक् विचार का अभाव। आत्मा का मूलस्वरूप क्या है? और वह मोहादि विकारों से किस प्रकार जन्मान्तरों में भटकता है? इत्यादि जैसे प्रश्नों का यहाँ समाधान खोजने का प्रयत्न किया जाता है।

४. परमपद में लीन हो जाना, रहस्यवाद की प्रमुख अभिव्यक्ति है। इसमें साधक आत्मा की इतनी पवित्र अवस्था तक पहुँच जाता है कि वह स्वयं परमात्मा बन जाता है। आत्मा और परमात्मा का एकाकारत्व एक ऐसी अवस्था है जहाँ साधक समस्त दुःखों से विमुक्त होकर एक अनिर्वचनीय शाश्वत चिदानन्द चैतन्य का रसपान करने लगता है। इसी को शास्त्रीय परिभाषा में हम निर्वाण अथवा मोक्ष कहते हैं।

---

१. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, ९८.
२. वही, १०१.
३. वही, पुण्य-पाप जगमूलपच्चीसी, १८.
४. वही, परमात्मशतक, २९.
५. जैनशतक, ९१.
६. अध्यात्म पदावलि, पृ० ३५९.
७. ज्ञानदर्पण, ४, ४५, १२८-३० आदि.
८. हर्ट आव् हिन्दुस्तान (भारत की अन्तरात्मा) अनुवादक—विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, १९५३, पृ० ६५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्त अवस्था में आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य हो जाता है। इसी तादात्म्य को समरस कहा गया है। जैन धर्म में आत्मा और परमात्मा का यह तादात्म्य अखण्ड ब्रह्म के अंश के रूप में स्वीकार नहीं किया गया, वहाँ तो विकारों से मुक्त होकर आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। जैन धर्म में आत्मा के तीन स्वरूप वर्णित हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा मिथ्यादर्शन के कारण विशुद्ध नहीं हो पाता। अन्तरात्मा में विशुद्ध होने की क्षमता है पर वह विशुद्ध अभी हुआ नहीं तथा परमात्मा आत्मा का समस्त कर्मों से विमुक्त और विशुद्ध स्वरूप है। आत्मा के प्रथम दो रूपों को साधक और अन्तिम रूप को साध्य कहा जा सकता है। साधक अनुभूति करने वाला है और साध्य अनुभूति तत्त्व।

परमात्मस्वरूप को सकल और निष्कल के रूप में विभाजित किया गया है। सकल वह है जिसके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का विनाश हो चुका हो और जो शरीरवान हो। जैन परिभाषा में इसे अरहन्त, अरिहन्त अथवा अर्हत् कहा गया है। हिन्दी साहित्य में इसी को सगुण ब्रह्म कहा गया है। आत्मा की निष्कल अवस्था में वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मों का भी विनाश हो जाता है और आत्मा निर्देही बन जाता है। इसी को निर्गुण ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। उत्तरकालीन जैन कवियों ने आत्मा की सकल और निष्कल अवस्था की भावविभोर होकर भक्ति प्रदर्शित की है और भक्तिभाव में प्रवाहित होकर दाम्पत्य-मूलक अहेतुक प्रेम का चित्रण किया है, जिसमें आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए विरह में तड़पती है, समरस होने का प्रयत्न करती है। समरस हो जाने पर वह उस अनुभूतिगत आनन्द को चिदानन्द चैतन्य रस का पान करती है।

रहस्यभावना के प्रमुख तत्त्व

रहस्यवाद का क्षेत्र असीम है। उस अनन्तशक्ति के स्रोत को पाना ससीम शक्ति के सामर्थ्य के बाहर है। अतः ससीमता से असीमता और परम विशुद्धता तक पहुँच पाना तथा चिदानन्द चैतन्यरस का पान करना साधक का मूल उद्देश्य रहता है। इस अवस्था की प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त रहस्य अथवा गुह्य है इसलिए साधक में विषय के प्रति जिज्ञासा और औत्सुक्य जितना अधिक जाग्रत होगा उतना ही उसका साध्य समीप होता चला जायेगा। रहस्य को समझने और अनुभूति में लाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख तत्त्वों का आधार लिया जा सकता है—

१. जिज्ञासा और औत्सुक्य।

२. संसारचक्र में भ्रमण करने वाले आत्मा का स्वरूप।

३. संसार का स्वरूप।

४. संसार से मुक्त होने का उपाय (भेदविज्ञान)।

५. मुक्त अवस्था की परिकल्पना (निर्वाण)।

रहस्यभावना का साध्य, साधन और साधक

रहस्यभावना का प्रमुख साध्य, परमात्मपद की प्राप्ति करना है, जिसके मूल साधन हैं—स्वानुभूति और भेदविज्ञान। किसी विषय वस्तु का जब किसी प्रकार से साक्षात्कार हो जाता है तब साधन के अन्तरंग में तद्विषयक विशिष्ट अनुभूति जागरित हो जाती है। साधना की सुप्तावस्था में चराचर जगत् साधक को यथावत् दिखाई देता है। उसके प्रति उसके मन में मोहगर्भित आकर्षण भी बना रहता है। पर साधक के मन में जब रहस्य की यह गुत्थि समझ में आ जाती है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ अशाश्वत है, क्षणभंगुर है किन्तु यह सत्-चित् रूप आत्मा उसका अपना ही स्वरूप है, तब उसके मन में एक अपूर्व आनन्दानुभूति होती है। इसे हम शास्त्रीय परिभाषा में भेदविज्ञान कह सकते हैं। साधक को भेदविज्ञान की यथार्थ अनुभूति हो जाना ही रहस्यवादी साधना का साध्य है। शास्त्रीय परिभाषा में इसे हम निर्वाण कह सकते हैं।

साध्य सदैव रहस्य की स्थिति में रहता है। सिद्ध हो जाने पर फिर वह रहस्यवादी के लिए अज्ञात अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहस्य नहीं रह जाता। साधक के लिए भले ही वह रहस्य बना रहे। इसलिए तीर्थंकर ऋषभदेव, महावीर, राम, कृष्ण आदि की परम स्थिति साध्य है। इसे हम ज्ञेय अथवा प्रमेय भी कह सकते हैं।

इस साध्य, ज्ञेय अथवा प्रमेय की प्राप्ति में जिज्ञासा मूल कारण है। जिज्ञासा ही प्रमेय अथवा रहस्य तत्त्व के अन्तस्तल तक पहुँचने का प्रयत्न करती है। तदर्थ साध्य के सन्दर्भ में साधक के मन में प्रश्न-प्रतिप्रश्न उठते रहते हैं। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इसी का सूचक है। 'नेति-नेति' के माध्यम से साधक की रहस्यभावना पवित्रतम होती जाती है और वह रहस्य के समीप पहुँचता चला जाता है। फिर एक समय वह अनिर्वचनीय स्थिति को प्राप्त कर लेता है। 'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। यह अनुभूतिपरक जिज्ञासा ही अभिव्यक्ति के क्षेत्र में काव्य बनकर उतरती है। इसी काव्य के माध्यम से सहृदय व्यक्ति साधारणीकरण प्राप्त करता है और शनैः-शनैः ब्रह्म दशा तक बढ़ता चला जाता है। अतएव इस प्रकार के काव्य में व्यक्त रहस्यभावना की गहनता और सघनता को ही यथार्थ में काव्य की विधेयावस्था का केन्द्र-बिन्दु समझना चाहिए।

परम गुह्य तत्त्वरूप रहस्यभावना के वास्तविक तथ्य तक पहुँचने के लिए साधक को कुछ ऐसे शाश्वत साधनों का उपयोग करना पड़ता है जिनके माध्यम से वह चिरन्तन सत्य को समझ सके। ऐसे साधनों में आत्मा और परमात्मा के विशुद्ध स्वरूप पर चिन्तन और मनन करना विशेष महत्त्वपूर्ण है। जैन धर्म में तो इसी को केन्द्रबिन्दु के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसी को कुछ विस्तार से समझाने के लिए यहाँ समूचे तत्त्वों को दो भागों में विभाजित किया गया है—जीव और अजीव। जीव का अर्थ आत्मा है और अजीव का विशेष सम्बन्ध उन पौद्गलिक कर्मों से है जिनके कारण यह आत्मा संसार में बारम्बार जन्म ग्रहण करता रहता है। इन कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से कैसे होता है, इसके लिए आस्रव और बन्ध तत्त्व आये हैं तथा उनसे आत्मा कैसे विमुक्त होता है, इसके लिए संवर और निर्जरा तत्त्वों को रखा गया है। आत्मा का कर्मों से सम्बन्ध जब पूर्णतः दूर हो जाता है तब उसका विशुद्ध और मूल रूप सामने आता है। इसी को मोक्ष कहा गया है।

इस प्रकार रहस्यभावना का सीधा सम्बन्ध जैन संस्कृति में उक्त सप्त तत्त्वों पर निर्भर करता है। इन सप्त तत्त्वों की समुचित विवेचना ही जैनग्रन्थों की मूल भावना है। आचारशास्त्र और विचारशास्त्र इन्हीं तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए दिखाई देते हैं। अध्यात्मवादी ऋषि-महर्षियों और विद्वान् आचार्यों ने रहस्यभावना की साधना में अनुभूति के साथ विपुल साहित्य का सृजन किया है।

'एकं हि सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' के अनुसार एक ही परम सत्य को विविध प्रकार से अनुभव में लाते हैं और उसे अभिव्यक्त करते हैं। उनकी रहस्यानुभूतियों का धरातल पवित्र आत्म-साधना से मण्डित रहता है। यही साधक तत्त्वदर्शी और कवि बनकर साहित्य जगत् में उतरता है। उसका काव्यभाव सौन्दर्य से निखरकर स्वाभाविक भाषा में निःसृत होता है। फिर भी पूर्ण अभिव्यक्ति में असमर्थ होकर वह प्रतीकात्मक ढंग से भी अपनी रहस्यभावना को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। उसकी अभिव्यक्ति के साधन स्वरूप भाव और भाषा में श्रद्धा, प्रेमाभक्ति, उपालम्भ, पश्चात्ताप, दास्यभाव आदि जैसे भाव समाहित होते हैं। साधक की दृष्टि सत्संगति और सद्गुरु महिमा की ओर आकृष्ट होकर आत्म-साधना के मार्ग से परमात्मपद की प्राप्ति की ओर मुड़ जाती है।

रहस्यभावना की साधना में साधक पूरे आत्मविश्वास के साथ आत्म-शक्ति का दृढ़तापूर्वक उपयोग करता है। तदर्थ उसे किसी बाह्य शक्ति की भी प्रारम्भिक अवस्था में आवश्यकता होती है जिसे वह अपने प्रेरक तत्त्व के रूप में स्थिर रखता है। साधना में प्रकर्षता और स्थिरता लाने के लिए साधक भक्ति, ज्ञान और कर्म के समन्वित रूप का आश्रय लेकर साध्य को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाता है। भक्तिपरक साधना में श्रद्धा और विश्वास, ज्ञानपरक साधना में तर्क-वितर्क की प्रतिष्ठा और कर्मपरक साधना में यथाविधि आचार का परिपालन होता है।

रहस्यवादी साधक भक्ति, ज्ञान और कर्म को समान रूप से अंगीकार करता है। दार्शनिक परिभाषा में इसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का परिपालन कहा जा सकता है। साधनावस्था में इन तीनों का सम्यक् मिलन निर्वाण की प्राप्ति के लिये अपेक्षित है।

साधक और कवि की रहस्यभावना में किंचित् अन्तर है। साधक रहस्य का स्वयं साक्षात्कार करता है पर कवि उसकी भावात्मक भावना करता है। यह आवश्यक नहीं कि योगी कवि नहीं हो सकता अथवा कवि योगी नहीं हो सकता। काव्य का तो सम्बन्ध भाव से विशेषतः होता है और साधक की रहस्यानुभूति भी वहीं से जुड़ी हुई होती है। अतः इतिहास के पन्ने इस बात के साक्षी हैं कि उक्त दोनों व्यक्तित्व समरस होकर आध्यात्मिक साधना करते रहे हैं। यही कारण है कि योगी कवि हुआ है और कवि योगी हुआ है। दोनों ने रहस्यभावना की भावात्मक अनुभूति को अपना स्वर दिया है। भावना अनुभूतिपरक होती है और वाद किसी धर्म, सम्प्रदाय अथवा साहित्य से सम्बद्ध होकर ससीमित हो जाता है। इस अन्तर के होते हुए भी रहस्यभावना का सम्बन्ध अन्ततोगत्वा चूँकि किसी साधना विशेष से सम्बद्ध रहता है इसलिए वह भी कालांतर में अनुभूति के माध्यम से एक वाद बन जाता है।

अध्यात्मवाद और दर्शन

जहाँ तक अध्यात्मवाद और दर्शन के सम्बन्ध का प्रश्न है, वह परस्पराश्रित है। अध्यात्मवाद योग साधना है जो साक्षात्कार करने के एक साधन का बौद्धिक विवेचन है। अध्यात्मवाद अनुभूति पर आधारित है जब कि दर्शन ज्ञान पर आधारित है। अध्यात्मवाद तत्त्वज्ञान प्रधान है और दर्शन उसकी पद्धति और विवेचन करता है। इस प्रकार दर्शन की पृष्ठभूमि में ही दोनों का संगम संभव हो पाता है। दोनों के अन्तर को समझने के लिए हम दर्शन के दो भेद कर सकते हैं—आध्यात्मिक रहस्यवाद और दार्शनिक रहस्यवाद। आध्यात्मिक रहस्यवाद आचारप्रधान होता है और दार्शनिक रहस्यवाद ज्ञानप्रधान। अतः आचार और ज्ञान की समन्वयावस्था ही सच्चा अध्यात्मवाद अथवा रहस्यवाद है।

रहस्यभावना किसी न किसी सिद्धान्त अथवा विचार-पक्ष पर आधारित रहती है और वही जब तर्क पर आधारित हो जाती है तो उसका दार्शनिक पक्ष प्रारम्भ हो जाता है। दर्शन को न तो जीवन से पृथक् किया जा सकता है और न अध्यात्म से। इसी प्रकार काव्य का सम्बन्ध भी दर्शन से बिलकुल तोड़ा नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक आध्यात्मवादी अथवा रहस्यवादी काव्य के क्षेत्र में आने पर दार्शनिक साहित्यकार हो जाता है। यही उसकी रहस्यभावना की अभिव्यक्ति विविध क्षेत्रों में विविध रूप से होती है। आदि कवि वाल्मीकि भी कालांतर में दार्शनिक बन गये। वेदों और आगमों के रहस्य का उद्घाटन करने वाले ऋषि-महर्षि भी दार्शनिक बनने से नहीं बच सके। वस्तुतः यहीं उनके जीवन्त-दर्शन का साक्षात्कार होता है और यहीं उनके कवित्व रूप का उद्घाटन भी। काव्य की भाषा में इसे हम रहस्यभावना का साधारणीकरण कह सकते हैं। परमतत्त्व की गुह्यता को समझने का इससे अधिक अच्छा और कौन-सा साधन हो सकता है?

रहस्यवाद और अध्यात्मवाद

अध्यात्म अन्तस्तत्त्व की निश्चल गतिविधि का रूपान्तर है। उसका साध्य परमात्मा का साक्षात्कार और उससे एक रूपता की प्रतीति है। यह प्रतीति किसी न किसी साधनापथ अथवा धर्म पर आधारित हुए बिना संभव नहीं। साधारणतः विद्वानों का यह मत है कि धर्म या सम्प्रदाय को रहस्यवाद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता क्योंकि धर्म या सम्प्रदाय ईश्वरीय शास्त्र (Theology) के साथ जुड़ा रहता है। इसमें विशिष्ट-आचार, बाह्यपूजन पद्धति, साम्प्रदायिक व्यवस्था आदि जैसी बातों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है जो रहस्यवाद के लिए उतने आवश्यक नहीं।[1]

पर यह तथ्य संगत नहीं। प्रथम तो यह कि ईश्वरीशास्त्र का सम्बन्ध प्रत्येक धर्म अथवा सम्प्रदाय में उस रूप में नहीं जिस रूप में वैदिक अथवा ईसाईधर्म में है। जैन और बौद्ध दर्शन में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता-हर्ता नहीं माना

---

१. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० ६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया। दूसरी बात, बाह्य-पूजन पद्धति, कर्मकाण्ड आदि का सम्बन्ध भी जैनधर्म और बौद्धधर्म के मूल रूपों में नहीं मिलता। ये तत्त्व तो श्रद्धा और भक्ति के विकास के सूचक हैं। उक्त धर्मों का मूल तत्त्व तो संसरण के कारणों को दूरकर निर्वाण की प्राप्ति करना है। यही मार्ग उस धर्मों का वास्तविक अध्यात्म मार्ग है। इसी को हम तद्तद् धर्मों का रहस्य भी कह सकते हैं।

रहस्यवाद का सम्बन्ध जैसा हम पहले कह चुके हैं किसी न किसी धर्म विशेष से अवश्य रहेगा। ऐसा लगता है, अभी तक रहस्यवाद की व्याख्या और उसकी परिभाषा मात्र वैदिक दर्शन और संस्कृति को मानदण्ड मानकर की जाती रही है। ईसाई धर्म भी इस सीमा से बाहर नहीं है। इन धर्मों में ईश्वर की सृष्टि का कर्ता आदि स्वीकार किया गया है और इसीलिए रहस्यवाद को उस ओर अधिक मुड़ जाना पड़ा। परन्तु जहाँ तक श्रमण संस्कृति और दर्शन का प्रश्न है वहाँ तो इस रूप में ईश्वर का कोई अस्तित्व है ही नहीं। वहाँ तो आत्मा ही परमात्मपद प्राप्त कर तीर्थंकर अथवा बुद्ध बन सकता है। उसे अपने अन्धकाराच्छन्न मार्ग को प्रशस्त करने के लिए एक प्रदीप की आवश्यकता अवश्य रहती है जो उसे प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर प्राप्त हो जाता है।

रहस्यभावना के प्रकार

रहस्यवाद के प्रकार साधनाओं के प्रकारों पर अवलम्बित हैं। विश्व में जितनी साधनायें होंगी, रहस्यवाद के भी उतने भेद होंगे। उन भेदों के भी प्रभेद मिलेंगे। सभी भेदों-प्रभेदों को सामान्यतः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—भावनात्मक रहस्यवाद और दूसरा साधनात्मक रहस्यवाद। भावनात्मक रहस्यवाद अनुभूति पर आधारित है और साधनात्मक रहस्यवाद सम्यक् आचार-विचारयुक्त योग साधना पर। दोनों का लक्ष्य एक ही है—परमात्मपद अथवा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति। साधना अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों ही होती है। अन्तर्मुखी साधना में साधक अशुद्ध के मूल स्वरूप विशुद्धात्मा को प्रियतम अथवा प्रियतमा के रूप में स्वीकार कर उसे योगादि के माध्यम से खोजने का यत्न करता है तथा बहिर्मुखी साधना में विविध आध्यात्मिक तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है।

रहस्यभावना का सम्बन्ध चरमतत्त्व को प्राप्त करने से रहा है और चरमतत्त्व का सम्बन्ध किसी एक धर्म अथवा योग साधनाविशेष से रहना सम्भव नहीं इसलिए रहस्यभावना की पृष्ठभूमि में साधक की जिज्ञासा और उसका आचरित सम्प्रदाय विशेष महत्त्व रखता है। सम्प्रदायों और उनके आचारों का वैभिन्न्य सम्भवतः विचारों और साधनाओं में वैविध्य स्थापित कर देता है इसलिए साधारण तौर पर आज जो वह मान्यता है कि रहस्यवाद का सम्बन्ध भारतीय साधनाओं में मात्र वैदिक साधना से ही है, मात्र भ्रम है। प्रत्येक सम्प्रदाय का साधक अपने किसी न किसी आप्त पुरुष में अद्वैत तत्त्व की स्थापना करने की दृष्टि से उनके ही द्वारा निर्दिष्ट पथ अनुगमन करता है और अलौकिक स्वसंवेद्य अनुभवों और रहस्यभावों को प्रतीक आदि के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि आधुनिक रहस्यवाद की परिभाषा में भी मत-वैभिन्न्य देखा जाता है।

इसके बावजूद अधिकांश साधनाओं में इतनी समानता दिखाई देती है कि जैसे वे हीनाधिक रूप से किसी एक ही सम्प्रदाय से सम्बद्ध हों। यह अस्वाभाविक भी नहीं, क्योंकि प्रत्येक साधक का मूल लक्ष्य उस अदृष्ट शक्ति-विशेष को आत्मसात करना है। उसकी प्राप्ति के लिए दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिवेणी-धारा का पवित्र प्रवाह अपेक्षित है। रहस्यभावना की भूमिका इन तीनों की सुन्दर संगम स्थली है, परम सत्य या परमात्मा के आत्म-साक्षात्कार के स्वरूप का वर्णन सभी साधक एक जैसा नहीं कर सके क्योंकि वह अनादि, अनन्त और सर्वव्यापक है और उसकी प्राप्ति के मार्ग भी अनन्त हैं। अतः अनेक कथनों से उसे व्यंजित किया जाना स्वाभाविक है। उनमें जैन दर्शन के स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के अनुसार किसी का भी कथन गलत नहीं कहा जा सकता। रहस्यभावना में वैभिन्न्य पाये जाने का यही कारण है। संभवतः पद्मावत में जायसी ने निम्न छन्द से इसी भाव को दर्शाया है—

विधना के मारग हैं तेते।
सरग नखत तन रोवां जेते ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस वैभिन्न्य के होते हुए भी सभी का लक्ष्य एक ही रहा है—परम सत्य की प्राप्ति और परमात्मा से आत्म-साक्षात्कार।

साधारणतः जैन धर्म से रहस्यभावना अथवा रहस्यवाद का सम्बन्ध स्थापित करने पर उसके सामने आस्तिक-नास्तिक होने का प्रश्न खड़ा हो जाता है। परिपूर्ण जानकारी के बिना जैन धर्म को कुछ विद्वानों ने नास्तिक दर्शनों की श्रेणी में बैठा दिया है। यह आश्चर्य का विषय है। इसी कल्पना पर यह मन्तव्य व्यक्त किया जाता है कि जैनधर्म रहस्यवादी हो ही नहीं सकता क्योंकि वह वेद और ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। यही मूल में भूल है।

प्राचीनकाल में जब वैदिक संस्कृति का प्राबल्य था, उस समय नास्तिक की परिभाषा वेद-निन्दकों के रूप में कर दी गयी। परिभाषा के रूप निर्धारण में तत्कालीन परिस्थिति का विशेष हाथ था। वेद-निन्दक अथवा ईश्वर को सृष्टि का कर्ता, हर्ता, धर्ता के रूप में स्वीकार न करने वाले सम्प्रदायों में प्रमुख सम्प्रदाय थे जैन और बौद्ध; इसलिए उनको नास्तिक कह दिया। इतना ही नहीं, निरीश्वरवादी मीमांसक और सांख्य जैसे वैदिक दर्शन भी नास्तिक कहे जाने लगे।

सिद्धान्ततः नास्तिक की यह परिभाषा नितान्त असंगत है। नास्तिक और आस्तिक की परिभाषा वस्तुतः पारलौकिक अस्तित्व की स्वीकृति और अस्वीकृति पर निर्भर करती है। आत्मा और परलोक के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला आस्तिक और उसे अस्वीकार करने वाला नास्तिक कहा जाना चाहिए था। पाणिनिसूत्र "अस्ति नास्ति दिष्टं मति (४. ४. ६०) से भी यह बात पुष्ट हो जाती है। जैन संस्कृति के अनुसार आत्मा अपनी विशुद्धतम् अवस्था में स्वयं ही परमात्मा का रूप ग्रहण कर लेती है, दैहिक और मानसिक विकारों से दूर होकर परमपद की प्राप्ति कर लेती है। इस प्रकार यहाँ स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि की व्यवस्था स्वयं के कर्मों पर आधारित है। अतः जैनदर्शन की गणना नास्तिक दर्शनों में करना नितान्त असंगत है।

जैन रहस्यभावना भी श्रमण संस्कृति के अन्तर्गत आती है। बौद्ध-साधना ने जैन साधना से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। जैन साधकों ने आत्मा को केन्द्र के रूप में स्वीकार किया है। यही आत्मा तब संसार में जन्ममरण के चक्कर से छूट जाता है, तब उसे विशुद्ध अथवा विमुक्त कहा जाता है। आत्मा की इसी विशुद्धावस्था को परमात्मा कहा गया है। परमात्मपद की प्राप्ति स्व-पर-विवेकरूप भेदविज्ञान के होने पर ही होती है। भेदविज्ञान की प्राप्ति मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र के स्थान पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समन्वित आचरण से हो जाती है। इस प्रकार आत्मा द्वारा परमात्मपद की प्राप्ति ही जैन रहस्यभावना की अभिव्यक्ति है।

स्वानुभूति

रहस्यभावना के लिए प्रमुख तत्त्व स्वानुभूति है। अनुभूति का अर्थ है अनुभव। बनारसीदास ने शुद्ध निश्चय नय, शुद्ध व्यवहार नय और आत्मानुभव को मुक्ति का मार्ग बताया है। उन्होंने अनुभव का अर्थ बताते हुए कहा है कि आत्म-पदार्थ का विचार और ध्यान करने से चित्त को जो शान्ति मिलती है तथा आत्मिक रस का आस्वादन करने से जो आनन्द मिलता है, उसी को अनुभव कहा जाता है—

वस्तु विचारत ध्यावते, मन पावै विश्राम।
रसस्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याको नाम॥[1]

कवि बनारसीदास ने इस अनुभव को चिन्तामणि रत्न, शान्तिरस का कूप, मुक्ति का मार्ग और मुक्ति का स्वरूप माना है। इसी का विश्लेषण करते हुए आगे उन्होंने कहा है कि अनुभव के रस को जगत के ज्ञानी लोग रसायन

---

१. नाटक समयसार, १७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं। इसका आनन्द कामधेनु चित्रावेली के समान है। इसका स्वाद पंचामृत भोजन के समान है। यह कर्मों का क्षय करता है और परमपद से प्रेम जोड़ता है। इसके समान अन्य कोई धर्म नहीं है—

अनुभव चितामणि रतन, अनुभव है रस कूप।
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोख स्वरूप ।।१८।।
अनुभौ के रस कौ, रसायन कहत जग।
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।।
....
अनुभौ की केलि यहै, कामधेनु चित्रावेलि।
अनुभौ कौ स्वाद पंच अमृत कौ कौर है।।
अनुभौ करम तोरे सौ परम प्रीति जोरे।
अनुभौ समान न धरम कोऊ और है ।।१९।।[1]

रूपचंद पांडे ने इस अनुभूति को आत्म ब्रह्म की अनुभूति कहकर उसे दिव्यबोध की प्राप्ति का साधन बताया है। चेतन इसी से अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य प्राप्त करता है और स्वतः उसका साक्षात्कार कर चिदानन्द चैतन्य का रसपान करता है—

अनुभौ अभ्यास में निवास सुध चेतन कौ,
अनुभौ सरूप सुध बोध कौ प्रकास है।
अनुभौ अपार उपरहत अनन्तज्ञान,
अनुभौ अनीत त्याग ज्ञान सुखरास है।
अनुभौ अपार सार आप ही कौ आप जानै,
आप ही में व्याप्त दीसै, जामें जड़ नास है।
अनुभौ अरूप है सरूप चिदानंद चंद,
अनुभौ अतीत आठ कर्म स्यौ अकास है ।।[2]

जिस प्रकार वैदिक संस्कृति में ब्रह्मवाद अथवा आत्मवाद को अध्यात्मनिष्ठ माना है उसी प्रकार जैन संस्कृति में भी रहस्यवाद को अध्यात्मवाद के रूप में स्वीकार किया गया है। पं० आशाधर ने अपने योग विषयक ग्रन्थ को 'अध्यात्मरहस्य' उल्लिखित किया है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनाचार्य अध्यात्म को रहस्य मानते थे।

बनारसीदास ने इस अध्यात्मरहस्य को अभिव्यक्ति का साधन अपनाया है—

इस ही सुरस के सवादी भये तै तौ सुनौ, तीर्थंकर चक्रवर्ति शैलों अध्यात्म की।
बल वासुदेव प्रति वासुदेव विद्याधर, चारण मुनिन्द्र इन्द्र छेदी बुद्धि भ्रम की ।।[3]

अध्यात्मवाद का तात्पर्य है आत्मचिन्तन। आत्मा के दो भाव हैं—आगम रूप और अध्यात्मरूप। आगम का तात्पर्य है वस्तु का स्वभाव और अध्यात्म का तात्पर्य आत्मा-अधिकार अर्थात् आत्म द्रव्य। संसार में जीवन के दो भाव विद्यमान रहते हैं—आगम रूप कर्म पद्धति और अध्यात्मरूप शुद्धचेतनपद्धति। कर्मपद्धति में द्रव्यरूप और भावरूप कर्म आते हैं। द्रव्यरूपकर्म पुद्गल परिणाम कहलाते हैं और भावरूपकर्म पुद्गलाकार आत्मा की विशुद्ध परिणति रूप परिणाम कहलाते हैं। शुद्ध चेतना पद्धति का तात्पर्य है शुद्धात्म परिणाम। वह भी द्रव्यरूप और भावरूप दो प्रकार का है।

---

१. नाटक समयसार, १८-१९.
२. अध्यात्म सवैया, १.
३. बनारसीदास, ज्ञानबावनी, पृ० ८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यरूप परिणाम वह है जिसे हम जीव कहते हैं और भावरूप परिणाम में अनन्त चतुष्ट्य—अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की प्राप्ति मानी जाती है।[1] इस प्रकार अध्यात्म से सीधा सम्बन्ध आत्मा का है।

अध्यात्मशैली का मूल उद्देश्य आत्मा को कर्मजाल से मुक्त करना है। प्रमाद के कारण व्यक्ति उपेदशादि तो देता है पर स्वयं का हित नहीं कर पाता। वह वैसा ही रहता है जैसा दूसरों के पंकयुक्त पैरों को धोने वाला स्वयं अपने पैरों को नहीं धोता।[2] यही बात कलाकार बनारसीदास ने अध्यात्मशैली की विपरीत रीति को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।[3] इस अध्यात्मशैली को ज्ञाता साधक की सुदृष्टि ही समझ पाती है—

अध्यातम शैली अन्य शैली कौ विचार तैसो,
ज्ञाता की सुदृष्टि मांहि लगै एतौ अंतरौ ॥[4]

एक और रूपक के माध्यम से कविवर ने स्पष्ट किया है कि जिन-वाणी को समझने के लिए सुमति और आत्मज्ञान का अनुभव आवश्यक है। सम्यक् विवेक और विचार से मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है। शुक्लध्यान प्रकट हो जाता है और आत्मा अध्यात्मशैली के माध्यम से मोक्ष रूपी प्रासाद में प्रवेश कर जाता है।[5]

जिन वाणी दुग्ध माँहिं, विजया सुमतिहार,
निज स्वाद कंद वृंद चहल-पहल में।
विवेक विचार उपचार ए कंसूभौ कीन्हों,
'मिथ्या सोफी' मिहि गये ज्ञान की गहल में ॥
'शीरणी' शुकल ध्यान अनहद 'नाद' तान,
'गान' गुणमान करैं सुजस सहल में।
'बनारसीदास' मध्य नायक सभा समूह में,
अध्यातम शैली चली मोक्ष के महल में ॥

बनारसीदास को अध्यात्म के बिना परम पुरुष का रूप ही नहीं दिखाई देता। उसकी महिमा अगम और अनुपम है। बसन्त का रूपक लेकर कविवर ने पूरा अध्यात्म फाग लिखा है। कुमति-रूपी रजनी का स्थितिकाल कम हो गया, मोह-पंक घट गया, संशय-रूपी शिशिर समाप्त हो गया, शुभ-दल पल्लव लहलहा रहे हैं, अशुभ-पतझर हो रही है, विषयरति-मालती मलिन हो गई, विरति-वेलि फैल गई, विवेकशशि निर्मल हुआ, आत्मशक्ति सुचंद्रिका विस्तृत हुई, सुरति-अग्नि ज्वाला जाग उठी, सम्यक्त्व-सूर्य उदित हो गया, हृदय कमल विकसित हो गया, कषाय-हिमगिरि गल गया, निर्जरा नदी में प्रवाह आ गया, धारणा-धार शिव-सागर की ओर बह चली, संवरभाव-गुलाल उड़ा, दया-मिठाई, तप-मेवा, शील-जल, संयम-ताम्बूल का सेवन हुआ, परम ज्योति प्रकट हुई, होलिका में आग लगी, आठ काठ-कर्म जलकर बुझ गये और विशुद्धावस्था प्राप्त हो गई।[6]

अध्यात्मरसिक बनारसीदास आदि महानुभावों के उपर्युक्त गम्भीर विवेचन से यह बात छिपी नहीं रही कि उन्होंने अध्यात्मवाद और रहस्यवाद को एक माना है। दोनों का प्रस्थान बिन्दु, लक्ष्य-प्राप्ति तथा उसके साधन समान हैं। दोनों शान्तरस के प्रवाहक हैं।

---

१. बनारसीविलास, पृ० २१०.
२. बनारसीविलास : ज्ञानबावनी, पृ० २६.
३. वही, पृ० १३.
४. वही, पृ० ३८.
५. वही, पृ० ४५.
६. बनारसीविलास : अध्यात्मफाग, पृ० १-१८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गूँगे का सा गुड़ की इस रहस्यानुभूति में तर्क अप्रतिष्ठित हो जाता है—"कहत कबीर तरह दुइ साधै तिनकी मति है मोटी" और वाद-विवाद की ओर से मन दूर होकर भगवद्भक्ति में लीन हो जाता है।[१] उसकी अनुभूति साधक की आत्मा ही कर सकती है। रूपचंद ने इसी को 'चेतन अनुभव घट प्रतिभासो, चेतन अनुभव घन मन भावो' आदि शब्दों से अभिव्यक्त किया है।[२] संत सुन्दरदास ने ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन अनुभव को ही माना है।[३] बनारसीदास के समान ही संत सुंदरदास ने भी उसके आनन्द को अनिर्वचनीय कहा है।[४] उन्होंने उसे साक्षात् ज्ञान और प्रलय की अग्नि माना है जिसमें सभी द्वैत, द्वन्द्व और प्रपंच विलीन हो जाते हैं।[५] सुन्दरदास ने 'अपहु आप हि जानै' स्वीकार किया है।[६] भैया भगवतीदास ने इसी को शुद्धात्मा का अनुभव कहा है।[७] बनारसीदास ने पंचामृत-पान को भी अनुभव के समक्ष तुच्छ माना है और इसलिए उन्होंने कह दिया—'अनुभौ समान धरम कोऊ और न'[८]। अनुभव के आधार-स्तम्भ ज्ञान, श्रद्धा और समता आदि जैसे गुण होते हैं।[९] कबीर और सुन्दरदास जैसे संत भी श्रद्धा की आवश्यकता पर बल देते हैं।

इस प्रकार अध्यात्म किंवा रहस्यसाधना में जैन और जैनेतर साधकों ने समान रूप से स्वानुभूति की प्रकर्षता पर बल दिया है। इस अनुभूतिकाल में आत्मा को परमात्मा अथवा ब्रह्म के साथ एकाकारता की प्रतीति होने लगती है। यहीं समता और समरसता का भाव जागरित होता है। इसके लिए सन्तों और आचार्यों को शास्त्रों और आगमों की अपेक्षा स्वानुभूति और चिन्तनशीलता का आधार अधिक रहता है। डा० राजकुमार वर्मा ने संतों के सन्दर्भ में सही लिखा है— ये तत्त्व सीधे शास्त्र से नहीं आये, वरन् शताब्दियों की अनुभूति तुला पर तुलकर, महात्माओं की व्यावहारिक ज्ञान की कसौटी पर कसे जाकर सत्संग और गुरु के उपदेशों से संगृहीत हुए। यह दर्शन स्वार्जित अनुभूति है। जैसे सहस्रों पुष्पों की सुगन्धि मधु की एक बूंद में समाहित है, किसी एक फूल की सुगन्धि मधु में नहीं है, उस मधु के निर्माण में भ्रमर की अनेक पुण्य-तीर्थों की यात्रायें सन्निविष्ट हैं, अनेक पुष्पों की क्यारियाँ मधु के एक-एक कण में निवास करती हैं। उसी प्रकार संत-सम्प्रदाय का दर्शन अनेक युगों और साधकों की अनुभूतियों का सम्मुच्चय है।[१०]

जैन और जैनेतर रहस्यभावना में अन्तर

१. जैन रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा के मिलन की बात अवश्य करता है पर वहाँ आत्मा से परमात्मा मूलतः पृथक नहीं। आत्मा की विशुद्धावस्था को ही परमात्मा कहा जाता है जब कि अन्य साधनाओं में अन्त तक आत्मा और परमात्मा दोनों पृथक् रहते हैं। आत्मा और परमात्मा के एकाकार होने पर भी आत्मा परमात्मा नहीं बन पाता। जैन साधना अनन्त आत्माओं के अस्तित्व को मानता है पर जैनेतर साधनाओं में प्रत्येक आत्मा को परमात्मा का अंश माना गया है।

---

१. वादविवाद काहू सों नाहीं माहिं जगत थे न्यारा, —दादूदयाल की वानी, भाग-२, पृ०२९.
२. हिन्दी पद संग्रह, पृ० ३६-३७.
३. अनुभव बिना नहीं जान सके निरसंध निरंतर नूर है रे।
उपमा उसकी अब कौन कहै नहिं सुंदर चंदन सूर है रे॥ —संत सुधासार, पृ० ५८६.
४. संत चरनदास की वानी, भाग २, पृ० ४५.
५. सुन्दरविलास, पृ० १६४.
६. वही, पृ० १५९.
७. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, पृ० ९८.
८. नाटक समयसार, उत्थानिका, १९, पृ० १४.
९. बनारसीविलास, ज्ञानबावनी
१०. डा० राजकुमार वर्मा : अनुशीलन, पृ० ७७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. जैन रहस्यवाद में ईश्वर को सुख-दुःख दाता नहीं माना गया। वहाँ तीर्थंकर की परिकल्पना मिलती है जो पूर्णतः वीतरागी और आप्त हो। अतः उसे प्रसाद-दायक नहीं माना गया। वह तो मात्र दीपक में रूप में पथ-दर्शक स्वीकार किया गया है। उत्तरकाल में भक्ति आन्दोलन हुए और उनका प्रभाव जैन साधना पर भी पड़ा। फलतः उन्हें भक्तिवश दुःखहारक और सुखदायक के रूप में स्मरण किया गया है। प्रेमाभिव्यक्ति भी हुई है पर उसमें भी वीतरागता के भाव अधिक निहित हैं।

३. जैन साधना अहिंसा पर प्रतिष्ठित है। अतः उसकी रहस्यभावना भी अहिंसामूलक रही। षट्चक्र, कुण्डलिनी आदि जैसी तांत्रिक साधनाओं का जोर उतना अधिक नहीं हो पाया जितना अन्य साधनाओं में हुआ।

४. जैन रहस्यभावना का हर पथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समन्वित रूप पर आधारित है।

५. स्व-पर-विवेक रूप भेदविज्ञान उसका केन्द्र है।

६. प्रत्येक विचार निश्चय और परमार्थ नय पर आधारित है।

जैन रहस्यभावना की परम्परा

जैन और जैनेतर रहस्यभावना में अन्तर समझने के बाद हमारे सामने जैन साधकों की लम्बी परम्परा आ जाती है। उनकी साधना को हम आदिकाल, मध्यकाल और उत्तरकाल के रूप में विभाजित कर सकते हैं। इन कालों में जैन साधना का क्रमिक विकास भी दृष्टिगोचर होता है। जैन रहस्यवाद तीर्थंकर ऋषभदेव से प्रारम्भ होकर पार्श्वनाथ और महावीर तक पहुँची। महावीर से आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामि, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, मुनि कार्तिकेय, अकलंक, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र, मुनि योगीन्दु देव, मुनि रामसिंह, आनन्दतिलक, बनासीदास, भगवतीदास, आनन्दघन, भूधरदास, द्यानतराय, दौलतराम प्रभृति जैन रहस्यसाधकों के माध्यम से रहस्यभावना की उत्तरोत्तर विकास होता गया।

आदिकाल

जैन परम्परा के अनुसार आदिनाथ ने हमें साधना-पद्धति का स्वरूप दिया। उसी के आधार पर उत्तरकालीन तीर्थंकर और आचार्यों ने अपनी साधना की। इस सन्दर्भ में हमारे सामने दो प्रकार की साधनाएँ साहित्य में उपलब्ध होती हैं।

पार्श्वनाथ परम्परा की रहस्यभावना

भगवान पार्श्वनाथ जैन परम्परा के २३वें तीर्थंकर कहे जाते हैं। वे भगवान महावीर से, जिन्हें पालि-साहित्य में निगण्ठनाथपुत्त के नाम से स्मरण किया गया है, लगभग २५० वर्ष पूर्व अवतरित हुए थे। त्रिपिटक में उनके साधनात्मक रहस्यवाद को चातुर्याम संवर के नाम से अभिहित किया गया है। ये चार संवर—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह हैं। उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थों में भी इनका विवरण मिलता है। पार्श्वनाथ के इन व्रतों में से चतुर्थ व्रत में ब्रह्मचर्य व्रत अन्तर्भूत था। पार्श्वनाथ के परिनिर्वाण के बाद इन व्रतों के आचरण में शैथिल्य आया और फलतः समाज ब्रह्मचर्य व्रत से पतित होने लगा। पार्श्वनाथ की इस परम्परा को जैन परम्परा में 'पार्श्वस्थ' अथवा 'पासत्थ' कहा गया है।

निगंठनाथपुत्त परम्परा की रहस्यसाधना

निगंठनाथपुत्त अथवा महावीर के आने पर इस आचार शैथिल्य को परखा गया। उसे दूर करने के लिए महावीर ने अपरिग्रह का विभाजन कर निम्नांकित पंचव्रतों को स्वीकार किया—१. अहिंसा २. सत्य, ३. अचौर्य ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह। महावीर के इन पंचव्रतों का उल्लेख जैन आगम साहित्य में तो आता ही है पर उनकी साधना के जो उल्लेख पालि-साहित्य में मिलते हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।[1]

१. विशेष देखिए—डा० भागचन्द्र जैन भास्कर का ग्रन्थ 'जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर'—तृतीय अध्याय—जैन ईथिक्स.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर की रहस्यवादी परम्परा अपने मूलरूप में लगभग प्रथम सदी तक चलती रही। उसमें कुछ विकास अवश्य हुआ, पर वह बहुत अधिक नहीं। यहाँ तक आते-आते आत्मा के तीन स्वरूप हो गये—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। साधक बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के माध्यम से परमात्मपद को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में आत्मा और परमात्मा में एकाकारता हो जाती है—

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ, अंतोवाएण चएहि बहिरप्पा ॥[२]

इस दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य निःसन्देह प्रथम रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं। उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार आदि ग्रन्थों में इसका सुन्दर विश्लेषण किया है।

मध्यकाल

कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उनके ही पदचिह्नों पर आचार्य उमास्वामि, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, मुनि कार्तिकेय, अकलंक, विद्यानन्दि, अनन्तवीर्य, प्रभाचंद्र, मुनि योगीन्दु आदि आचार्यों ने रहस्यवाद का अपनी सामयिक परिस्थितियों के अनुसार विश्लेषण किया। यह दार्शनिक युग था। उमास्वामि ने इसका सूत्रपात किया था और माणिक्यनंदि ने उसे चरम विकास पर पहुँचाया था। इस बीच जैन रहस्यवाद दार्शनिक सीमा में बद्ध हो गया। इसे हम जैन-दार्शनिक रहस्यवाद भी कह सकते हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्य विकास के साथ एक उल्लेखनीय विकास यह था कि आदिकाल में जिस आत्मिक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कहा गया था और इन्द्रियप्रत्यक्ष को परोक्ष कहा गया था, उस पर इस काल में प्रश्न-प्रतिप्रश्न खड़े हुए। उन्हें सुलझाने की दृष्टि से प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये--सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। यहाँ निश्चयनय और व्यवहारनय की दृष्टि से विश्लेषण किया गया। साधना के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ।

इस युग में मुनि योगीन्दु का भी योगदान उल्लेखनीय है। इनका समय यद्यपि विवादास्पद है फिर भी हम लगभग ८वीं, ९वीं शताब्दी तक निश्चित कर सकते हैं। इनके दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निर्विवाद रूप से हमारे सामने हैं—१. परमात्मप्रकाश और २. योगसार। इन ग्रन्थों में कवि ने निरंजन आदि कुछ ऐसे शब्द दिए हैं जो उत्तरकालीन रहस्यवाद के अभिव्यंजक कहे जा सकते हैं। इन ग्रन्थों में अनुभूति का प्राधान्य है। परमेश्वर से मन का मिलन होने पर पूजा आदि निरर्थक हो जाती हैं, क्योंकि दोनों एकाकार होकर समरस हो जाते हैं—

मणु मिलिय उपरमेसरहं, परमेसरु विमणस्स।
बीहि वि समरसि हूवाहि, पुज्ज चडावउं कस्स ॥[१]

उत्तरकाल

उत्तरकाल में रहस्यवाद की आधारगत शाखा में समयानुकूल परिवर्तन हुआ। इस समय तक जैन संस्कृति पर वैदिक साधकों, राजाओं और मुसलमानों आक्रमणकारियों द्वारा घनघोर विपदाओं के बादल छा गये थे। उनसे बचने के लिए आचार्य जिनसेन ने मनुस्मृति के आचार को जैनीकृत कर दिया, जिसका विरोध दसवीं शताब्दी के आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिलक चम्पू में मन्द स्वर में किया। लगता है, तत्कालीन समाज उस व्यवस्था को स्वीकार कर चुकी थी। जैन रहस्यवाद की यह एक और सीढ़ी थी, जिसने उसे वैदिक संस्कृति के नजदीक ला दिया।

जिनसेन और सोमदेव के बाद रहस्यवादी कवियों में मुनि रामसिंह का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता

२. मोक्ख पाहुड—कुन्दकुन्दाचार्य, ४.
१. योगसार, १२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उनका 'दोहापाहुड' रहस्यवाद की परिभाषाओं से भरा पड़ा है। शिव-शक्ति का मिलन होने पर अद्वैतभाव की स्थिति आ जाती है और मोह-विलीन हो जाता है।

सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्ति विहीणु।
दो हि मि जाणहि सयलु-जगु वुज्झइ मोह विलीणु ॥५५॥[1]

मुनि रामसिंह के बाद रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का कुछ और विकास होता गया। इस विकास का मूल कारण भक्ति का उद्रेक था। इस भक्ति का चरम उत्कर्ष महाकवि बनारसीदास जैसे हिन्दी जैन कवियों में देखा जा सकता है—नाटक समयसार, मोह-विवेक-युद्ध, बनारसीविलास आदि ग्रन्थों में उन्होंने भक्ति-प्रेम और श्रद्धा के जिस समन्वित रूप को प्रस्तुत किया है वह देखते ही बनता है। सुमति को पत्नी और चेतन को पति बनाकर जिस आध्यात्मिक-विरह को उकेरा है, वह स्पृहणीय है। आत्मारूपी पत्नी और परमात्मारूपी पति के वियोग का भी वर्णन अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है। अन्त में आत्मा को उसका पति उसके घट (अन्तरात्मा) में ही मिल जाता है। इस एकत्व की अनुभूति को महाकवि बनारसीदास ने इस प्रकार वर्णित किया है—

पिय मोरे घट मैं पिय माहिं। जल तरंग ज्यों दुविधा नाहिं ॥
पिय भो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी में ज्ञान विभूति ॥
पिय सुख सागर मैं सुख सींव। पिय सुख मंदिर मैं शिव-नींव ॥
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम ॥
पिय शंकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मैं केवलवानि ॥[2]

ब्रह्म साक्षात्कार रहस्यवादात्मक प्रवृत्तियों में अन्यतम है। जैन साधना में परमात्मा को ब्रह्म कह दिया है। बनारसीदास ने तादात्म्य अनुभूति के सन्दर्भ में अपने भावों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

बालम तुहुं तन चितवन गागरि फूटि।
अंचरा गो फहराय सरम गे फूटि, बालम ॥१॥
पिय सुधि पावत वन में पेसिउ पेलि,
झाड़त राज डगरिया भयउ अकेलि, बालम ॥२॥[3]

रहस्यभावनात्मक इन प्रवृत्तियों में भावनात्मक और साधनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद उपलब्ध होते हैं। मोह-राग-द्वेष आदि को दूर करने के लिए सद्गुरु और सत्संग की आवश्यकता तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना की अभिव्यक्ति हिन्दी जैन रहस्यवादी कवियों की लेखनी से बड़ी ही सुन्दर, सरल और सरस भाषा में प्रस्फुटित हुई है। इस दृष्टि से सकलकीर्ति का आराधना प्रतिबोधसार, जिनदास का चेतन-गीत, जगतराम का आगमविलास, भवानीदास का चेतनसुमतिसज्झाय, भगवतीदास का योगीरासा, रूपचन्द का परमार्थगीत, द्यानतराय का द्यानतविलास, आनन्दघन का आनन्दघन बहोत्तरी, भूधरदास का भूधरविलास आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

जैन रहस्यभावना इन परम्पराओं में उलझती-सुलझती आधुनिककाल तक वाद की स्थिति में पहुँच गयी। फिर भी स्वरूप और विश्लेषण करने के उपरान्त यह प्रतीत होता है कि विशुद्ध साधनों पर आधारित साध्य की प्राप्ति के लिए जैन साधक परामानवतावादी बन जाता है और आत्मदर्शन के माध्यम से चरमतत्त्व को प्राप्त करता है। इस प्राप्ति में उसकी उपादान शक्ति निमित कारणों का आश्रय पाकर बलवती हो जाती है। उसका स्वयं का पुरुषार्थ इसमें कारणभूत होता है, ईश्वर-कृपा नहीं। यही जैन रहस्यवाद है।

१. योगसार, ५५.
२. बनारसी विलास, अध्यात्मगीत, १६.
३. वही, पृ० २२८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org